प्रस्तावना

महाराज श्री विद्यानन्दजी ने इस युग की नई पीढी को धर्म की ओर आकृष्ट करने के लिए लेखमालाओ का आरम्भ किया है और लोगो पर उनका अच्छा प्रभाव पडा है। जनमानस को वदलने के लिए ऐसा प्रयत्न वस्तुत प्रशसनीय है। प्रस्तुत पुस्तिका मे अतिसक्षिप्त रूप मे मत्र, मूर्ति और स्वाध्याय पर प्रकाश डाला गया है और इनकी महत्ता वतलाई गई है। वैसे ये तीनो ही विपय ऐसे है कि इन पर विस्तृत विवेचन और विश्लेषण की आवश्यकता है। सम्भवत, आज के पाठको के समय की व्यस्तता को ध्यान मे रखते हुए ही इन्हे सार रूप मे प्रस्तुत किया गया है।

नमस्कार मत्र का जैनशास्त्रो मे वहुत वडा महत्त्व है। यह अपराजित मत्र कहा जाता है और सारे विघ्नो का, पापो का विनाश करने वाला है। यह आत्मा की शुद्धि का मत्र है। मारण, मोहन, उच्चाटन आदि जघन्य क्रियाओ से इसकी महत्ता प्रभावित नही है। क्योकि उस प्रकार के मत्र हिंसापरक एव वासना के उत्तेजक होते है। जैनधर्म का तो आधार ही अहिसा है। यह अपराजित मत्र, जो कभी, किसी से परास्त होने वाला नही है, मानव के आध्यात्मिक उत्थान मे वडा ही सहायक है। इसका कारण यह है कि जिन्होने वीतराग-विज्ञानता को पूर्णत प्राप्त कर लिया है, या उसे प्राप्त करने की दिशा मे जिनका वास्तविक प्रयत्न चालू है और अशत जिसे प्राप्त भी कर लिया गया है उन पचपरमेष्ठियो को इसमे प्रणाम किया गया है। सचमुच इस

मन्त्र से मनुष्य को आध्यात्मिक शक्ति, स्फूर्ति एव प्रेरणा मिलती है। इसलिए इसके प्रचार की नितान्त आवश्यकता है।

'मूर्तिपूजा' भी एक महत्त्वपूर्ण विषय है। महाभारत मे एकलव्य की कथा मूर्तिपूजा की उपादेयता एव सर्वग्राह्यता का एक ज्वलन्त उदाहरण है। एक बार अलवर (राजस्थान) के तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने अलवर के राजभवन मे स्वामी विवेकानन्द को कहा कि मूर्तिपूजा का औचित्य मेरी समझ मे नही आता। तत्काल इसका उत्तर देते हुए स्वामीजी ने कहा कि सामने जो महाराज की मूर्ति टँगी है उस पर थूक दो। यह बात सुनते ही प्रधानमन्त्री ने कहा कि मेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया। किन्तु मूर्तिपूजा के नाम पर हमारे देश मे आज जो कुछ हो रहा है वह किसी भी दृष्टि से समर्थन के योग्य नही है। महाराजश्री ने 'मूर्तिपूजा' का ठीक विश्लेषण किया है और उसके स्वस्थ रूप के औचित्य का समर्थन किया है। आत्मा की ओर बढने के लिए मूर्तिपूजा एक प्रेरक साधन है और उसका यथार्थ उपयोग किया जाना चाहिये।

स्वाध्याय तो एक ऐसा विषय है कि जिसकी उपयोगिता पर कभी दो मत नही हो सकते। मनुष्य के भौतिक और आध्यात्मिक उत्थान के लिए स्वाध्याय एक असाधारण साधन है। इस युग का सर्वोत्कृष्ट तप स्वाध्याय ही है। 'न स्वाध्यायात् पर तप' का औचित्य युक्तियो द्वारा इस निबन्ध मे समझाया गया है। जीवन की दुरूह गुत्थियो को सुलझाने के लिए स्वाध्याय से उत्कृष्ट कोई साधन नही है। भूतकाल के सारे सचित ज्ञान का तभी उपयोग किया जा सकता है जब हम स्वाध्याय के प्रति कभी प्रमाद न करे। स्वाध्याय का, ससार के सभी धर्म समर्थन करते है। वे लोग धन्य है जो स्वाध्याय एव चिन्तन के द्वारा प्रतिदिन कुछ न कुछ नया ज्ञान अर्जित करते है।

'धर्मश्रुतधनाना प्रतिदिन लवोऽपि सगृह्यमाणो भवति समुद्रादप्यधिक' सोमदेव का यह सूक्त बडा ही महत्त्वपूर्ण है। स्वाध्याय के द्वारा प्रतिदिन अर्जित किया गया थोडा-थोडा ज्ञान भी किसी दिन समुद्र से भी अधिक हो जाता है।

मुझे ज्ञात हुआ है कि महाराजश्री निरन्तर अध्ययन मे लगे रहते है। निष्कलक चारित्र और ज्ञानार्जन की रुचि मुनित्व के भूषण है। ये विशुद्ध जीवन के सकेत है। ये ही वे चीजे है जो दूसरो को भी पुनीत प्रेरणा देती है।

मुझे आशा है, पाठक इस पुस्तिका का वास्तविक उपयोग करेंगे।

भाद्रपद शुल्क १३,
वीर निर्वाण स० २४६०

प० चैनसुखदास न्यायतीर्थ
जयपुर
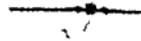
मंगल आरती

(श्री पं० द्यानतरायजी)

(१)

मंगल आरति आतमराम
तन मंदिर, मन उत्तम ठाम
समरस जल चन्दन आनन्द
तन्दुल तत्त्वस्वरूप अमन्द

(२)

समयसार फूलन की माल
अनुभव सुख नेवज भरि थाल
दीपक ज्ञान, ध्यान की धूप
निर्मल भाव महाफल रूप

(३)

सुगुण भविकजन इक रँगलीन
निहचै नवधा भक्ति प्रवीन
धुनि उत्साह सु अनहद गान
परम समाधि निरत परधान

(४)

बाहिज आतम भाव बहावै
अन्तर ह्वै परमातम ध्यावै
साहब-सेवक भेद मिटाय
'द्यानत' एकमेक हो जाय

प्राक्कथन

जाप्य, दर्शन और आत्मचिन्तन-विषयक प्रस्तुत लघु सग्रह प्रकाशित हो रहा है। इसमे अनादिनिधन महामन्त्र और उसके जाप्य से आत्मशुद्धि पर प्रकाश डाला गया है। साथ ही प्रतिदिन देवदर्शन, गुरूपासना और स्वाध्याय के महत्त्व का सक्षेप मे विवेचन किया गया है। अपनी दैनिक चर्या मे अत्यधिक व्यस्त रहने वाले यदि अहोरात्र के २४ घण्टो का चौबीसवॉ भाग भी मन्त्र, मूर्ति और स्वाध्याय-परिशीलन मे लगा सके तो मनुष्य जाति मे जन्म लेना सार्थक हो जाए। आहार, भय, मैथुन और परिग्रह सज्ञाओ से मुक्त होने के लिए 'लघु सग्रह' मे सकलित विषय अत्यन्त उपादेय है। मन्त्रो और मूर्तिपूजा के विषय मे स्वाध्याय के अभाव मे कुछ अन्यथा और भ्रान्त धारणाएँ आधुनिक समाज मे अकुरित हो रही है किन्तु वास्तविकता का परिज्ञान, बिना छानबीन, स्वाध्याय और गहराई मे उतरे, नही हो सकता। कहा भी है 'न वेत्ति यो यस्य गुणप्रकर्ष स त सदा निन्दति नात्र चित्रम्' जो जिसके विषय मे ज्ञान नही रखता, वह उसकी विशेषताओ से अपरिचित होने से उसकी निन्दा किया करता है। आधुनिक शिक्षा प्रणाली से शिक्षित वर्ग भी धर्म, सस्कृति और श्रमणपरम्परा से दूर जा पडा है। फलत वह बिना गहराई मे उतरे सुनी-सुनायी और मन कल्पित धारणाओ के कुहक मे से सम्यग्दर्शन नही कर सकता। सम्यक्त्व के बिना जितना जीवन व्यतीत हो गया, वह व्यर्थ गया, ऐसी आगम की मान्यता है। हम एक नया पैसा व्यय करते समय उसके उपयोग पर विचार करते है किन्तु जीवन के किसी भी मूल्य पर न मिलने वाले

श्वासोच्छ्वासो को यो ही गँवाते रहते है। बुद्धिमान् तो अपथ-प्रपन्न 'काकिणी' को भी बचाते है। किन्तु अधिकाश लोग प्रलाप, मिथ्या, द्यूत, कलह, परिवाद, कषाय और विषयो मे ऐसे तद्गत-प्राण रहते है कि जीवन का प्रभात कब 'कुहू' निशा मे बदल गया, जान भी नही पाते। जीवन के अमूल्य क्षणो को हम बाँध तो नही सकते किन्तु उनका उपयोग तो कर सकते है। किसी नीतिकार ने कहा है —

'आयुर्वर्षशत नृणा परिमित रात्रौ तदर्ध गतम्
तस्यार्धस्य परस्य चार्धमपर वै बालवृद्धत्वयो ॥
शेष व्याधिवियोगदु खनिहित सेवादिभिर्नीयते
जीवे वारितरगचचलतरे सौख्य कुत प्राणिनाम् ॥'

'सौ वर्ष आयुप्रमाण माना गया है। आधा रात्रिभाग सोने मे चला गया। शेष ५० वर्ष बचे। बचपन और वृद्धावस्था मे कुछ भाग नष्ट हो गया। शेष बचे हुए को व्याधि, वियोग और सासारिक दु खो तथा सेवाकार्य मे बिताना पडा। इस प्रकार सम्पूर्ण जीवन पानी पर नाचती हुई तरगो के समान आकुलता मे बीता, सुख क्या है ? जान भी नही पाये।'

पश्चात्ताप के, खिन्नता के और गुजरे हुए जीवन की नि - सारता पर आँसू बहाने के ये शतश श्लोक शल्य बनकर उतर जाते है उसके हृदय मे, जो अपने जीवन को सार्थक नही करता। और यदि बीते जीवन पर वह चीत्कार करे, धिक्कार भेजे तो भी क्या ? 'का बरषा जब कृषी सुखाने' खेती सूखने पर वर्षा हुई तो क्या लाभ ? मृत्युशय्या पर विवश पडे रोगी के मन मे धर्म और चरित्र के सकल्प उठे भी तो क्या ? इसलिए तो—

'प्रत्यह पर्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मन ।
किन्नु मे पशुभिस्तुल्य किन्न सत्पुरुषैस्तथा ॥'

मनुष्य को प्रतिदिन (मै कहता हूँ प्रतिक्षण) अपने चारित्र को देखते रहना चाहिए कि मेरा समय, चारित्र पशुओ के समान वीता है अथवा सत्पुरुषो के समान ?

अत मृत्यु का सौदागर भारी मूल्यवान् जीवनमणि को पानी के भाव खरीद ले जाए इससे पूर्व उसे चारित्र के शाणोपल पर निरन्तर भास्वर करते रहना चाहिए। भौतिक परिग्रहो मे डूवा हुआ मनुष्य आत्मा को प्राय भुला वैठता है। समुद्र के तटो पर कौडियाँ, शख और सीपियाँ ढेरो पडी रहती है किन्तु सच्चे रत्न-पारखी गहरे गोते लगा कर रत्न-मणि प्राप्ति का उद्योग करते रहते है। जो वाहर-वाहर देखता है वह अन्तरग की पहचान नही कर पाता। विपयो के सुख आपातमधुर है और परिणाम मे इनसे कटु दूसरा पदार्थ नही। जैसे 'गुडमार' औषधि के ऊपर खाया हुआ गुड मीठा नही प्रतीत होता, इसी प्रकार वासनाओ से अभिभूत व्यक्ति को विपयो का कटु परिणाम मालूम नही होता। तथापि गुड की मिठास प्रतीति मे न आने से क्या वह असिद्ध होगई ? उसी प्रकार वासनाभिभूत को यदि विषयो के कुत्सित परिणाम मालूम न हो तो परिणामो की सिद्धता क्या नप्ट हो गई ? यह तो केवल प्रतिवन्धक कारणो से प्रतीति-मात्र का विघात (अथवा अनाभास) है। इसलिए मानस की चिन्तनधारा को सत्साहित्य से सस्कारशील वनाना, उन्हे असत्साहित्य से वर्जित करने की अपेक्षा श्रेष्ठ है। निम्न उदाहरण से यह विषय अधिक स्पष्ट हो जाएगा। एक वालक के हाथ मे काच का गिलास है। यदि उसके हाथ से काच का गिलास छीनेगे, वह हठ करेगा और छीना-झपटी मे टूट गया तो हाथ मे खरोच आ जाएगी। गिलास लेने का आपत्तिरहित तरीका तो यह है कि उसके सामने एक मधुर 'चॉकलेट' रख दिया जाए। नवयुवको के हाथ मे तिलस्मी, जासूसी और यौनविकार उत्पन्न

करने वाले उपन्यासो के स्थान पर सत्साहित्य देने का प्रस्तुत प्रयास 'चॉकलेट' के समान है। 'तुम से लागी लगन' इत्यादि भजनावली के पदो को 'मुँह लगा' करने मे भी यही उद्देश्य है कि 'फिल्मी गीतो' की भ्रष्ट पदावली बालको के मुखस्वाद और आत्मरुचि को विकृत नही कर पाए।

आफिसो मे जानेवाले अपनी दैनिक चर्या मे कुछ समय धर्म- ध्यान मे बिताये, मन्दिर मे जाकर भगवान् का दर्शन करे और स्वाध्याय का व्रत ले। ऐसा करने से उनमे आत्मशक्ति का विकास होगा, शान्ति प्राप्त होगी और सद्‌विचारो की अभिवृद्धि मे सहयोग मिलेगा।

णमोकार मन्त्र

णमो अरिहंताण ।
णमो सिद्धाण ।
णमो आयरियाण ।
णमो उवज्झायाण ।
णमो लोए सव्वसाहूण ।

अर्हन्त भगवान् को नमस्कार है । सिद्ध भगवान् को नमस्कार है । आचार्य परमेष्ठी को नमस्कार है । उपाध्यायो को नमस्कार है । लोक मे सर्व-साधुओ को नमस्कार है ।

णमोकार मंत्र माहात्म्य

मंत्र अधिष्ठातृदेवता का तेज स्वरूप होता है । यद्यपि शब्द पुद्गल द्रव्य है तथापि क्रमविशेष से विन्यास करने पर ये विशेप अभिप्राय का वोध कराने मे सहायक है । शब्द वोलने से उस पदार्थ की आकृति, गुण, सत्ता इत्यादि आँखो के सामने नाचने लगते है । किसी व्यक्ति को शब्द से ही सम्वोधित किया जाता है । विश्व के प्राणियो के करोडो नाम शब्द रूप ही है । ये शब्द अपने तत्सम रूप मे रूढ होकर व्यक्ति, पदार्थ अथवा वस्तु का वोध कराते है । 'महेन्द्र कुमार' कहने से इस नाम को धारण

करने वाला व्यक्ति अपने को सबोधित किया हुआ समझेगा। किन्तु यदि हम इसी व्यक्ति को महेन्द्र के अन्य पर्यायवाची शब्द से, जैसे – 'पाकशासन कुमार, शचीन्द्र कुमार या देवेन्द्र कुमार' इत्यादि नामो से कहेगे तो 'महेन्द्र कुमार' नामक व्यक्ति का बोध नही होगा। इसलिए मन्त्र के शब्दो मे रूपान्तर अथवा सशोधन अथवा भाषान्तर नही होता और उनके मूल रूप को ही 'मन्त्र' सज्ञा दी जाती है। मन्त्र रूप मे लिखित वर्णों का उसी रूप मे, उसी क्रम से श्रद्धानपूर्वक जाप्य करने से आत्मा के साथ उस मत्रनिष्ठ देव के तेजस्वरूप का साहचर्य अनुभव होता है। 'णमोकार मत्र' इसी प्रकार के सिद्ध वर्णों का मत्रात्मक समुच्चय है। पच परमेष्ठियो का वन्दन है। इसके जाप्य करने से सब पापो का (क्रोध, लोभ, मान और माया आदि कषायो एव वासनाओ का) नाश होता है। यह मन्त्रराज सम्पूर्ण मगलो मे प्रथम मगल है। 'णमोकार' मन्त्र का आगमसिद्ध माहात्म्यश्रवण निम्नलिखित है—

'ऐसो पच णमोयारो सव्व पावप्पणासणो।
मगलाण च सव्वेसि पढम हवइ मगल।'

यह मगलमय मन्त्र मुक्तिप्रदाता है और देवत्व को सुलभ करने वाला है। 'मुक्तिप्रदेन मन्त्रेण देवत्व न हि दुर्लभम्' तालाब मे एक ककर फेकने से सहस्र तरगे उठती है और उसी ककर को वृक्ष पर उछालने से बैठे हुए शत-शत कौए उड जाते है। सिद्ध मन्त्रो के एकाक्षर उच्चारण के साथ ही पापसमूह विशीर्ण होने लगते है। शब्दो के अपने अलग रूप, रस, गन्ध और वर्ण है। 'अकार चन्द्रकान्ताभम्' 'अ' चन्द्रकान्त मणि के समान है। इसका गन्ध चन्दन के समान है। रस गोदुग्धवत् और वर्ण स्फटिक मणि मजुल है। इसी प्रकार अन्य अक्षरो के रूप,

रस, गन्ध, वर्ण है जिनका विस्तृत विवरण पूज्यपाद आचार्य ने 'मत्रलक्षण-शास्त्र' मे पुद्गलवर्णना प्रकरण मे दिया है। शब्द से मधुरता और कटुता की सृष्टि होती है। आधुनिक अनुसधान-कर्ताओ ने सगीत के प्रभाव से वनस्पतियो को अधिक फल देते, रसान्वित होते और पशुओ को अधिक दूध देते सिद्ध किया हे। अकवर के दरवार मे तानसेन द्वारा गीयमान 'दीपक' राग से दीपक जल उठने की अनुश्रुति प्रसिद्ध हे। श्रद्धा और विश्वास-पूर्वक मत्र-साधना करने से अचित्य चिन्तामणि की प्राप्ति हो सकती है।

मगलोत्तमशरण पाठ

चत्तारि मगल।

अरिहता मगल। सिद्धा मगल। साहू मगल। केवलिपण्णत्तो धम्मो मगल।

चत्तारि लोगुत्तमा।

अरिहता लोगुत्तमा। सिद्धा लोगुत्तमा। साहू लोगुत्तमा। केवलि-पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो।

चत्तारि सरण पव्वजामि।

अरिहते सरण पव्वजामि। सिद्धे सरण पव्वजामि। साहू सरण पव्वजामि। केवलिपण्णत्त धम्म सरण पव्वजामि।

अर्थ संक्षेप –

चार मगल स्वरूप हे।

भगवान् अर्हत मगल है। सिद्ध भगवान् मगल है। सर्वसाधु मगल है। केवली प्रणीत धर्म मगल हे।

चार लोकोत्तम है।

भगवान् अर्हत लोकोत्तम हे। सिद्ध भगवान् लोकोत्तम हे। सर्व-साधु लोकोत्तम है। केवली प्रणीत धर्म लोकोत्तम है।

चारो की शरण मे जाता हूँ ।
भगवान् अर्हंत की शरण मे जाता हूँ । सिद्ध भगवान् की शरण मे जाता हूँ । साधुओ की शरण मे जाता हूँ । केवली प्रणीत धर्म की शरण मे जाता हूँ ।

यह 'मगलोत्तमशरण' पाठ है । पाठ का प्रथम अश 'चत्तारि मगल' द्वितीय अश 'चत्तारि लोगुत्तमा' और तृतीय अश 'चत्तारि सरण पव्वजामि' है । इस प्रकार इस पाठ मे क्रमश मगल, उत्तम और शरण का स्मरण किया गया है । अतएव इस पाठ का नाम 'मगलोत्तमशरण' पाठ सार्थक है ।

अर्हन्त भगवान्, सिद्ध, साधु और केवली भगवान् मगल-स्वरूप है, अखिल मगलमय है । ये ही लोक मे उत्तम है और इन्हीकी शरण कल्याण मार्ग के पथिक को ग्रहण करने योग्य है । 'मगलोत्तमशरण' पाठ का वाचन करते समय श्रद्धानपूर्वक उल्लिखित भावना धारण करनी चाहिए । भावना भाने से भावात्मक एकता उत्पन्न होती है । भावात्मक एकता से ताद्रूप्य सिद्धि होती है । ताद्रूप्य सिद्धि से मोक्ष-प्राप्ति होती है । मोक्ष प्राप्त करना मानव जीवन का सर्वोच्च ध्येय है । इस प्रकार परम्परा से 'मगलोत्तमशरण' पाठ परम पुरुषार्थ के प्रति कारण है । आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने 'भाव पाहुड' की १२४ वी गाथा मे लिखा है—

'झायहि पचवि गुरवे मगल चउसरण लोयपरियरिये ।
णर सुरखेचर सहिए आराहणणायगे वीरे ॥'

हे भव्यजीव ! तू पच परमेष्ठियो का ध्यान कर । परमेष्ठी मगलरूप है । अर्हन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ये चारो शरण है । लोक मे उत्तम है । मनुष्य, देव, विद्याधरो से पूज्य है । आराधना के स्वामी और वीर हैं ।

जिनेन्द्रदर्शन पाठ

दर्शन देवदेवस्य दर्शन पापनाशनम् ।
दर्शन स्वर्गसोपान दर्शन मोक्षसाधनम् ॥१॥
दर्शनेन जिनेन्द्राणा साधूना दर्शनेन च ।
न चिर तिष्ठते पाप छिद्रहस्ते यथोदकम् ॥२॥
वीतरागमुख दृष्ट्वा पद्मरागसमप्रभम् ।
नैकजन्मकृत पाप दर्शनेन विनश्यति ॥३॥
दर्शन जिनसूर्यस्य ससारध्वान्तनाशनम् ।
वोधन चित्तपद्मस्य समस्तार्थप्रकाशनम् ॥४॥
दर्शन जिनचन्द्रस्य सद्धर्मामृतवर्षणम्।
जन्मदाहविनाशाय वर्धन सुखवारिधे ॥५॥
जीवादितत्वप्रतिदर्शकाय सम्यक्त्वमुख्याष्टगुणाश्रयाय ।
प्रशान्तरूपाय दिगम्वराय देवाधिदेवाय नमो जिनाय ॥६॥
चिदानन्दैकरूपाय जिनाय परमात्मने ।
परमात्मप्रकाणाय नित्य सिद्धात्मने नम ॥७॥
अन्यथा शरण नास्ति त्वमेव शरण मम ।
तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ! ॥८॥
न हि त्राता न हि त्राता न हि त्राता जगत्त्रये ।
वीतरागात् परो देवो न भूतो न भविष्यति ॥९॥
जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्जिने भक्तिर्दिने दिने ।
सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु सदा मेऽस्तु भवे भवे ॥१०॥
जिनधर्मविनिर्मुक्तो मा भूव चक्रवर्त्यपि ।
सचिन्तोऽपि दरिद्रोऽपि जिनधर्मनिवासित ॥११॥
जन्मजन्मकृत पाप जन्मकोटिसमर्जितम् ।
जन्ममृत्युजरामूल हन्यते जिनदर्शनात् ॥१२॥

स्तोत्रमहिमा

मनुष्य रातदिन राग-विकार मे मग्न रहकर यद्वा-तद्वा बोलता रहता है, किन्तु वाणी का समुचित उपयोग तो परमात्मवन्दना की स्तोत्रपदावली मे ही है। भगवान् के चरणो मे अर्पित शब्दो की मगल ध्वनि से हृदयाकाश निर्मल होकर दिव्य ज्योति से भर जाता है। पक्षियो को देखो, वे प्रात साय कितनी तन्मयता से स्तुतिपाठ करते है। चौवीसो घण्टे दुनियावी भाषा वोलने वाले यदि कुछ मिनट भी प्रार्थना के, स्तुति-स्तवन के छन्दो की लय मे अपना आत्मविसर्जन कर भावजगत् मे पहुँच जाया करे तो जीवन के वे क्षण मगलमय हो जाएँ। समाधिभक्ति मे लिखा है—

'एकापि समर्थेय जिनभक्तिर्दुर्गति निवारयितुम्।
पुण्यानि च पूरयितु दातु मुक्तिश्रिय कृतिन ॥'

भगवान् जिनेन्द्र के चरणारविन्द मे एकनिष्ठ भक्ति से दुर्गति का नाश, पुण्यो की प्राप्ति और मुक्ति सम्भव है। प्रात काल की वेला को भगवद्दर्शन से ही मगलमय वनाया जा सकता है।

वर्त्तमानकालतीर्थकरा

१ ऋषभनाथ २ अजित ३ सम्भव ४ अभिनन्दन ५ सुमति ६ पद्मप्रभ ७ सुपार्श्व ८ चन्द्रप्रभ ९ पुष्पदन्त १० शीतल ११ श्रेयान् १२ वासुपूज्य १३ विमल १४ अनन्त १५ धर्म १६ शान्ति १७ कुन्थु १८ अर १९ मल्लि २० मुनिसुव्रत २१ नमि २२ नेमि २३ पार्श्वनाथ २४ वर्द्धमान (महावीर)। वर्त्तमानकाल सम्वन्धिचतुर्विंशतितीर्थकरेभ्यो नमो नम ।

मूर्तिपूजा

मूर्तिपूजा का इतिहास वहुत प्राचीन है। मनुष्य की धार्मिक चर्या मे इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। आस्था और श्रद्धा के अग देवप्रतिमाओ के चरणपीठ वने हुए है। मूर्ति मे निराकार साकार हो उठता है और इसके भावपक्ष की दृष्टि मे साकार निराकार की सीमाओ को छू लेता है। मूर्ति अकम्प और निश्चल होने से सिद्धावस्था की प्रतीक है। उपासक अपनी समस्त वाह्य चेष्टाओ को और शरीर की हलन चलनात्मक स्पन्दन क्रियाओ को योग-मुद्रा मे आसीन होकर मूर्तिवत् अचल-अडिग करले और सम्मुख-स्थित प्रतिमा के समान तद्गुण हो जाए, यह उसकी सफलता है। मूर्ति मे मूर्तिधर के गुण मुस्कराते है। वह केवल पाषाण-मयी नही हे। उसके अर्चको पर 'पाषाणपूजक' लाञ्छन लगाना अपने अकिञ्चित्कर वुद्धिवैभव का परिचय देना है। मूर्ति मे जो व्यक्त सौन्दर्य है उसके दर्शन तो स्थूल आँखो वाले भी कर लेते है किन्तु उसके भावात्मक सौन्दर्य को पहचानने वाले विरले ही होते है। मूर्तिकार जव किसी अनगढ पत्थर को तराशता है, तो उसकी छेनी की प्रत्येक टकोर उत्पद्यमान मूर्तिविग्रही देव की प्राण-वत्ता को जाग्रत करने मे अपना अशेष कौशल तन्मय कर देती है। असीम धैर्य के साथ, अश्रान्त परिश्रमपूर्वक, उसके तक्षण मे गुणाधान की प्रक्रिया कार्य करती रहती है। अवयवो के परिष्कार से, रेखाओ की भगिमा से, अधरो की वनावट से, चितवन के कौशल से, वरौनियो की छाया मे विश्रान्त नीलकमल से नयनो की विशालता से, पीन-पुष्ट भुजदण्डो से, न केवल मूर्तिकार अगसौष्ठव ही तैयार करता है, अपितु वह स्पन्दनरहित प्राणाधान

ही मूर्ति मे प्रतिष्ठापित कर देता है। उस मूर्ति को, विग्रह को देखने मात्र से प्राण पुलकित हो उठते हे, चित्त की आह्लादशक्ति प्रवुद्ध होकर नाच उठती है। जिसको ढूँढकर नेत्र थक गये थे, उसीकी मुद्राकित प्रतिमा स्वय साकार होकर समुपस्थित हो जाती है। हमारा मन, जो एक भावसमुद्र है, मूर्ति उसमे पर्व-तिथियो के ज्वार तरगित कर देती है। जैसे गुलाव के पुष्प-सौन्दर्य को देखने वाला उसके मूल मे लगे काँटो को नही देखता, कमल पुष्प का प्रणयी जैसे उसके पकमूल को स्मरण नही करता, उसी प्रकार आत्मा के समस्त चैतन्य को अपनी प्रशान्त मुद्रा से आकर्पित करने वाले भगवान् की प्रतिमा को देखते हुए भक्त के नेत्र उसके पापाणत्व से ऊपर उठकर गुणधर्मावच्छिन्न लोकोत्तर व्यक्तित्व का ही दर्शन करने लगता हे और उस समय पूजक के कण्ठ से जो स्तुतिच्छन्द गीयमान होते है उनमे पापाण की सत्ता के चिन्ह भी नही मिलते। भक्त के सम्मुख स्थित प्रतिमा मे उसके आराध्य की झलक है, उसकी भावनाओ का आकार हे। वे प्रभु अनन्त दर्शन और अनन्त ज्ञानमय है। देव, देवेन्द्र उनकी पदवन्दना करते हैं। उनका वीतराग विगह पाषाण मे रति कैसे कर सकता है ? उनका मुक्त आत्मा प्रतिमा मे निवद्ध कैसे किया जा सकता है ? यह तो भक्त की भावना है, उसका उद्दाम अनु-रोध है जो सिद्धालय मे विराजमान भगवान् के साक्षात् दर्शन के लिए अधीर होकर प्रतिमा के माध्यम से उनकी स्तुति करता है, पूजा-प्रक्षालन करता हे। उसकी भावना के समुद्रपर्यन्त विस्तीर्ण मनोराज्य को झुठलाने का साहस स्वय भगवान् मे भी नही है। वह प्रतिमा के सम्मुख उपस्थित होकर किस भापा मे वोलता है ? सुनने वाले के प्राण गद्गद हो उठते है, नेत्रो मे भाव समुद्र लहराने लगता है—

दृष्ट्वा भवन्तमनिमेषविलोकनीय
नान्यत्र तोषमुपयाति जनस्य चक्षु ।
पीत्वा पय शशिकरद्युतिदुग्ध सिन्धो
क्षार जल जलनिधे रसितु क इच्छेत् ?'

'हे भगवन् ! आपके अनिमेश विलोकनीय स्वरूप को देखकर मेरी आँखे दूसरे किसी को देखना नही चाहती । भला, इन्दु की ज्योत्स्नाधारा पीने वाले को क्षार समुद्रजल क्या अच्छा लगेगा?' यहाँ मूर्तिपूजक के नेत्रो में जो पार्थिव से परे दिव्य रूप नाच रहा है उसे पापाणपूजा कहने का साहस किसमे है ? पाषाण और मूर्ति मे जो भेद है उसे न जानने से ही इस प्रकार की असत् कल्पना लोग करने लगते है। पापाण को उत्कीर्ण कर उसमें इतिहास और आगम प्रामाण्य से तत्तद् देवता के विग्रहो की रचना की जाती है। सिह, वृपभ, कमल इत्यादि चिह्नाकन से तीर्थंकरो के पृथक् २ नामरूप के अस्तित्व का ज्ञापन मूर्ति मे किया जाता है। यदि पापाण को 'सुवर्ण' कहा जाए तो मूर्तियो को कटक, रुचक, कुण्डल कह सकते है। जैसे 'कुण्डल' स्वरूप मे 'उत्पाद' अवस्था को प्राप्त हुए सुवर्ण को कोई सुवर्ण नही कहता 'कुण्डल' कहता है, उसी प्रकार विधिसम्मत स्थापनाओ से निर्मित देवप्रतिमा को पापाण नही कहा जा सकता। प्रतिमा के पूज्य आसन पर प्रतिष्ठित होने वाली मूर्ति को मन्त्रो से, प्रतिष्ठा-विधि से लक्षणानुसार बनाये गये मन्दिर मे विराजमान किया जाता है और उसमे देवत्व की भावना का विन्यास किया जाता है। वह प्रतिमा श्रद्धालुओ की आस्था को केन्द्रित करती है और इसके निमित्त से मन्दिरो और चैत्यालयो मे धर्म के घण्टानाद सुनायी देते है। मन्त्र, स्तुति-स्तोत्र, पूजा-प्रक्षाल, अर्चन-वन्दन होते है और विशाल जनसमुदाय की उदात्त भावनाओ को उस प्रतिमा से

सवल मिलता है। इस प्रकार धर्म, समाज और सस्कृति के उत्थान मे मूर्तिपूजा का महत्त्व अतिरोहित है। मूर्ति मे सस्कारो की भावना देने से देवत्व की प्रतिष्ठा होती है। इसीलिए मन्दिर मे स्थापित प्रतिमा और वाजार मे विकते हुए तद्रूप खिलौनो मे सस्कार अभाव से कोई साम्य नही। मूर्ति को पवित्र मन्दिर की ऊँची वेदी पर विराजमान कर अपने मनमन्दिर मे स्थापित करना ही उसकी सच्ची प्रतिष्ठा है। यदि पाषाण और मूर्ति मे भेद नही मानोगे तो स्त्री, माता, भगिनी मे भेद मानने का क्या आधार रहेगा? क्योकि स्त्रीपर्याय से तो ये समान है। अपेक्षा और सम्वन्धव्यवच्छेद से ही इनमे व्यावहारिक भेद किया गया है। वही आत्मानुशासित, पूज्यत्वप्रतिष्ठापन मूर्ति मे किया गया है। हमारे भारतीयध्वज मे और दूकानो के उसी तिरगे कपडे मे क्या अन्तर है? वस्त्रजाति तो दोनो मे एक ही है। परन्तु लालकिले पर राष्ट्रध्वज के रूप मे तिरगा ही क्यो लहराया जाता है? क्योकि, २१ जुलाई ४७ को प० जवाहरलाल नेहरू के प्रस्ताव पर एक निश्चित आकार मे, भगवे, श्वेत और हरे तीन रगो मे, क्रमश निष्काम त्याग, पवित्रता और सत्यता तथा प्रकृति के प्रति स्नेह को प्रेरित करने वाले प्रतीको मे राष्ट्रध्वज का स्वरूप स्थिर किया गया, जिसके वीच मे सत्य, ज्ञान और नैतिकता की ओर सकेत करने वाले 'धर्मचक्र' को स्थान दिया गया। इस प्रकार उसे वस्त्रमात्र से भिन्न मान्यता देकर 'राष्ट्रनिशान' के रूप मे मान्य किया गया। यही इसका उत्तर है और इसीके साथ सामान्य 'पाखाण' और 'मूर्ति' के वैशिष्ट्य का उत्तर भी सम्मिलित है। राष्ट्रध्वज जैसे राष्ट्र की स्वतत्रता का प्रतीक है, उसी प्रकार प्रतिमा समाज की दृढ आस्थाओ का प्रतीक है। मूर्ति के साथ मनुष्य की पवित्र भावनाओ का सनातन सवध है। मूर्ति का दर्शन करने से मूर्ति मे प्रतिष्ठाप्राप्त देव का देवत्व, दर्शन करने वालोमे सक्रमित होता है। अपने

आत्मा मे देवत्व की प्रतिष्ठा करना ही पूजा का उद्देश्य है। मूर्तिपूजा मे यह विशेष स्मरणीय है कि मनुष्य अपने सस्कारो के उपयुक्त वातावरण को ढूँढता रहता है और वातावरण मिलने से उन भावनाओ और सस्कारो को ही बलवान् करता है। किसी व्यक्ति को सिनेमा देखने की आदत है। वह नयी नयी तस्वीरे देखने के लिए अनेक सिनेमा-घरो मे विविध समय पर पैसे देकर जाता है और अपने मन के अनुकूल उपस्थित उस 'छविग्रकन' को देखता है। इससे उसके मन मे स्थित चित्रानुबन्धी राग को पोषण मिलता है, और उसी राग को पुष्ट करने वह फिर फिर उन छवियो को देखना चाहता है। भगवान् के देवस्वरूप को देखने के लिए भी सुसस्कृत आत्मा मन्दिर जाने का व्रत लेता है और अपने मन मे, भावना मे पूर्व से ही विद्यमान सात्विक प्रवृत्ति के पोषण के साधन मूर्ति मे पाकर और अधिक धर्मानुरागी होता है। यो देखा जाये तो चित्रदर्शन और मूर्ति-दर्शन व्यक्ति के मन मे सकुलित हो रहे भावो का स्पर्श कर उन्हे उद्वेलित, तरगित करने मे सहायक होते है। एक मदिरा पीने वाला मद्य बिकने के स्थान को देखकर अपनी 'पॉकेट' के पैसे मद्य पीने मे लगाता है। वह 'नशा' करके प्रसन्न होता है। यह 'नशा' करने की भावना उसमे पूर्व से ही विद्यमान है। 'मदिरा-गृह' और 'पॉकेट का पैसा' तो उसकी पूर्ति मे सहायक है। इस प्रकार मनुष्य की भावना ही उद्देश्य की ओर दौडती है तथा अपनी उत्कट बुभुक्षा की शान्ति चाहती है। यह भावना 'मद्य' पीने की ओर प्रवृत्त होती है तो लोक मे गर्हित कही जाती है। क्योकि मद्य पीने के परिणाम, उसमे व्यय किया हुआ पैसा तथा मूल मे मद्य स्वय दूषित है। यह आत्मविनाश के लिए त्रिदोष सन्निपात है। उसके पीने से व्यक्ति का चारित्रिक पतन होता है। पतन का मार्ग 'उन्मत्त' ही स्वीकार करता है। अत देश, जाति,

समाज और स्वय आत्मा के उत्कर्ष के लिए देवस्थानो की रचना की जाती है। भगवान् की प्रतिमा को विधिपूर्वक उनमे विराजमान किया जाता है। भगवान् की मूर्ति मे, उनका अशेप चारित्र जो मानव जाति के लिए श्रेयो मार्ग का निर्देशक है, दर्शक के मन-प्राण पर अकित होता है। जैसे किसी सुन्दरी को देखकर रागी का मन उसके प्रति आकृष्ट होता है, उसी प्रकार वीतराग प्रतिमा के दर्शन से मन मे ससार की असारता और विराग की ओर प्रवृत्त होने के भाव प्रवल होते है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है। गाधीजी के 'तीन वानर' मनुष्य की भावनाओ को मार्गस्थ रखने के सूचक ही हैं। 'मूर्तिपूजा' शब्द मे जो 'पूजा' शब्द है उसका अभिप्राय है—सत्कार, भक्ति, उपासना। जिस भगवान् की मूर्ति है उसके गुणो का वन्दन करना और उन्होने लोक को अपने उत्तम चारित्र से सन्मार्ग दिखाया इसके प्रति आत्मा की अशेप गहराइयो से कृतज्ञता ज्ञापन करना तथा उनके समान अपने आत्मलाभ के लिए प्रेरणा प्राप्त करना। मूर्ति का दर्शन, उसकी नित्यपूजा सदा से मानव मे इन्ही उदार विशेपताओ की गुणाधान प्रक्रिया को वल प्रदान करती रही है।

समाज के धार्मिक उत्थान मे मूर्तिपूजा ने महान् सहयोग किया है। वडे २ समाज धर्म के सगठन से ही शक्तिशाली वनते है और अपने आत्मिक उत्थान मे प्रवृत्त होते है। समाज के वहुधन्धी, वहुमुखी व्यक्तिसमुदाय को मन्दिरो के माध्यम से एक स्थान पर 'आस्था के केन्द्र' मिलते हैं। देवालय सार्वजनिक होने से उन्ही मे समाज मिलकर वैठ सकता है। वहाँ पवित्र वातावरण रहता है और भगवान् का सान्निध्य भी, इस लिए समाज के लिए मूर्तिपूजा अपने सम्पूर्ण गुणसमवायो के सरक्षण का स्थान है, एकता प्राप्त करने का दैवी सवल है। मनुष्य को अमरता का वरदान देव के चरणो मे बैठ कर ही

मिलता है। मूर्ति के चरणो मे ही उसका देहाभिमान गलित होता है और आत्मा का उदग्र पुरुषार्थ उदय मे आता है। भव्य परिणामो को उपस्थित करने मे 'मूर्तिपूजा' का प्रमुख स्थान है। जिस प्रकार युद्ध-प्रयाण करने वाला सैनिक भीम, अर्जुन, परशुराम, हनुमान् आदि वीरो का स्मरण कर अपने मे अतुल शक्ति का सचय करता है उसी प्रकार आत्मा के पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग को प्रशस्त करने वाला भगवान् की पवित्र प्रतिमा के दर्शन से अपने मे सत्साहस और निर्मलता को प्राप्त करता है।

मूर्तिपूजा गुणो की पूजा है। मूर्ति के माध्यम से पूजित भगवान् के गुणो का स्मरण व्यक्ति के गुणो को निर्मलता प्रदान करता है। निर्मलता से परिणामविशुद्धि होती है और परिणाम-विशुद्धि ही चारित्रमार्ग की जननी है। चारित्र से मोक्षसिद्धि होती है। अत मूर्तिपूजा को अपदार्थ मानने वाले वहुत भ्रम मे है। उनकी दृष्टि अज्ञान से आच्छन्न है। मूर्तिपूजा की विशाल पृष्ठभूमि से वे नितात अपरिचित है। मनुष्य अपने उद्धार के लिए किसी न किसी सस्कार की पाठशाला मे जाता है। देवालय ही वह सस्कार-पाठशाला है। भगवान् की मूर्ति ही परमगुरु है। कोई भी सम्यक्चेता भव्य इस पाठशाला से लाभ उठाकर भागवत पद को प्राप्त कर सकता है।

मूर्तिपूजा का प्राचीनत्व आज प्रमाणित हो चुका है। 'मोहन-जोदडो' और 'हडप्पा' के उत्खनन से जो ५००० वर्ष प्राचीन वस्तुएँ प्राप्त हुई है उनमे भगवान् आदिनाथ (ऋषभदेव) की खड्गासन प्रतिमा भी है, जो नग्न है और जैनो की मूर्तिपूजा को 'सिन्धुघाटी' सभ्यता तक ले जाती है।

वैदिक धर्मानुयायियो ने भी भगवान् ऋषभनाथ को ईश्वर का अवतार वताया है और मुक्तिमार्ग का प्रथम उपदेशक स्वीकार किया है। 'भागवतपुराण' मे भगवान् वृषभनाथ का वडा

सजीव वर्णन पौराणिक महर्षि व्यासदेव ने किया है। योगवाशिष्ठ, दक्षिणामूर्तिसहस्रनाम, वैशम्पायनसहस्रनाम, दुर्वासाऋषिकृत महिम्न-स्तोत्र, हनुमन्नाटक, ज्ञानार्णव तन्त्र, गणेशपुराण, व्यास-सूत्र, प्रभासपुराण, मनुस्मृति, ऋग्वेद और यजुर्वेद में जैनमत का उल्लेख हुआ है और उसकी सनातन प्राचीनता को वैदिक-पौराणिक मनीषियों ने साग्रह स्वीकार किया है।

'सिन्धु घाटी' सभ्यता के अन्वेषक श्रीरामप्रसाद चन्दा का कथन है कि — 'सिन्धु घाटी में प्राप्त देवमूर्तियाँ न केवल बैठी हुई 'योगमुद्रा' में हैं अपितु खड्गासन देवमूर्तियाँ भी हैं जो योग की 'कायोत्सर्ग' मुद्रा में हैं। कायोत्सर्ग की ये विशिष्ट मुद्राएं 'जैन' हैं। 'आदिपुराण' और अन्य जैनग्रन्थों में इस कायोत्सर्ग मुद्रा का उल्लेख ऋषभ या वृषभनाथ के तपश्चरण के सम्बन्ध में बहुधा किया गया है। ये मूर्तियाँ ईसवी सन् के प्रारम्भिक काल की मिलती हैं, और प्राचीन मिश्र के प्रारम्भिक राजवंशों के समय की दोनों हाथ लम्बित किये खडी मूर्तियों के रूप में मिलती हैं। प्राचीन मिश्र मूर्तियों में तथा प्राचीन यूनानी 'कुरोस' मूर्तियों में प्राय खड्गासन में हाथ लटकाये हुए समानाकृतिक मुद्राएँ हैं तथापि उनमें देहोत्सर्ग का (निःसंगत्व का) वह अभाव है जो सिन्धुघाटी की मूर्तियों में मिलता है।'

MOHEN-JO-DARO

(Sindh Five Thousand Years ago)

"Not only the seated deities engraved on some of Indus seals are in Yoga Posture and bear witness to the prevalence of yoga in the Indus valley in that remote age, the standing deities on the seals also show Kayotsarga (कायोत्सर्ग) posture of yoga" Further that the Kayotsarga posture is peculiarly Jaina, it is a

posture not of sitting but of standing In the Adi Purana Book xv III, Kayotsarga posture is described in connection with the penances of Risabha or Vrasabha A standing image of Jaina Risabha in Kayotsarga posture on a slab showing four such images, assignable to the 2nd century A D in the Curzon Museum of Archaeology, Mathura is reproduced in figure 12 Among the Egyptian sculptures of the time of the early dynasties there are standing statues with arms, hanging on two sides But though these early Egyptian statues and the archaic Greek Kouroi show nearly the same pose, they lack the feeling of abandon that characterises the standing figures on the Indus seals and images of Jainas in the Kayotsarga posture

Modern Review, August, 1932

आधुनिक विद्वानो मे डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, पी सी राय चौधरी पटना, भारतीय पुरातत्व के मुख्यनिदेशक श्री टी० एन रामचन्द्रन्, वाचस्पति गैरोला, रामधारी सिह 'दिनकर', प्रभृतियो ने जैनधर्म पर निष्पक्ष दृष्टिपात करते हुए उसे वैदिक धर्म का समकालीन अथ च उससे भी पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। अनेक विद्वानो का मत है कि 'मूर्तिपूजा' जैनो की देन है। इस दृष्टि से मूर्तिपूजको का इतिहास आज ईसा की शताब्दियो के उस पार 'सिन्धुघाटी' सभ्यता के अवशेपो मे मिल चुका है। सम्भव है, पुरातत्व के उत्खनन इसे कल और भी पुरातन प्रमाणित कर सके। जैन मूर्तियो और मन्दिरो के भव्य स्थापत्य को देखकर किसी का यह साहस तो नही हो सकता कि वह जैनो के मूर्तिपूजाविपयक बौद्धिक परामर्श को असमीचीन या अवुद्धिसमन्विन कह सके। निश्चय ही सनातन श्रमणकाल से चली आ रही जैनो की मूर्तिपूजा ठोस मनोविज्ञान की भूमि पर

आधारित है। मूर्ति के द्वारा ही हम अमूर्त परमात्मा की दिव्य झॉकी के आशिक दर्शन कर पाते है और इसी का अवलम्बन लेकर जनसाधारण अपनी श्रद्धा का आधार पाता है। वे लोग जो दर्शनशास्त्रो की ऊँची उडान से अनभिज्ञ है, मूर्ति के माध्यम से ही प्रत्यक् चेतना प्राप्त करते है। जहॉ कुतर्की अल्पज्ञानियो को मूर्ति मे पत्थर दिखाई देता है, वहॉ श्रद्धालुओ को उसमे साक्षात् परमात्मसाक्षात्कार होता है। भावपूजा से अनभिज्ञ द्रव्यपूजको को मूर्तिपूजा से ही आत्मशान्ति मिलती है। उनकी अचल श्रद्धा मूर्ति मे देवत्वका आवाहन करती है। मूर्तिपूजको की अविचल निष्ठा को विचलित करने का सामर्थ्य स्वय स्वयम्भू मे भी नही है।

प्राचीन युग की अपेक्षा आज मूर्तिपूजा की अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है क्योकि ज्ञान के क्षेत्र मे आज का मानव पूर्वयुगीन मानव से पिछडा हुआ है। यह मानना कि आज स्कूल, कॉलेज और विश्वविद्यालय अधिक है तथा साक्षरताप्रचार पूर्वापेक्षया व्यापक है अत ज्ञान वढा है, नितान्त भ्रान्ति है क्योकि ज्ञान मे और साक्षरता मे पूर्व-पश्चिम का अन्तर है, दूरी है। ज्ञान आत्मा का धर्म है और साक्षरता लोकव्यवहार चलाने का एक सामान्य माध्यम है। ज्ञान का मार्ग चारित्र मे मिलकर कृतार्थ होता है और साक्षरता से लोक के वहिरग-रमणीय नश्वर उपकरणो के उपभोग की प्रवृत्ति अधिक जागृत होती है। मोक्ष के लिए 'तुष-माष' मात्र भेदज्ञान रखने वाला साक्षर न होते हुए भी ज्ञानवान् है और विश्वविद्यालय की सर्वोच्च उपाधि से अलकृत भी मद्यमासनिषेवी, व्यसनाभिभूत, स्व-पर-प्रत्ययरहित ऑफिसो मे कामचलाऊ अधिकारी तो है किन्तु ज्ञानी नही। साक्षर मे और ज्ञानवान् मे यही मौलिक भेद है। तो, आज साक्षरो की भरमार है किन्तु 'ज्ञान को पन्थ कृपाण की धारा'

आत्मा के साक्षात्कार मे समर्थ ज्ञान की प्राप्ति करने वाले लाखो साक्षरो मे कुछेक ही है। प्रत्येक पदनिक्षेप 'प्रगति' ही नही होता, अगति अथवा पश्चाद्गति भी हो सकता है। आज प्रगति का नाम लिया जाता है। परन्तु वास्तव मे तो यह अगति, अधोगति और पश्चाद्गति ही है। जितना व्यसनो से आज का मानव अभिभूत है, पूर्वकाल मे नही था। पहले मनुष्य मे सात्विकता और धर्माचरणप्रवृत्ति थी, आज भोगलिप्साएँ और स्वैराचरण वढ गया है। एतावता पूर्व का मानव स्वस्थ था, आज मानसिक रूप से घोर रुग्ण है। अत चिकित्सा की आज अधिक आवश्यकता है। साक्षरता और ज्ञान का समन्वय होने से श्रेयोमार्ग की उपलब्धि सुलभ हो जाती है। ईसाई समाज, इस वात मे हम मूर्तिपूजको को इस दिशा मे कुछ शिक्षा देने की स्थिति मे है। मसीह के माननेवाले गिरिजाघरो मे जाकर अपने को गौरवान्वित समझते है तथा शान्ति प्राप्त करते है। किन्तु जैन-समाज के शिक्षाभिमानी लोग मन्दिर मे जाने मे अपनी 'हेठी' समझते है, उनमे से बहुतो को मन्दिर की सीढियाँ लाँघते लाज आती है। वडी विचित्र स्थिति है। आज से कुछ वर्षो पूर्व लोग सिनेमा हाल के सामने खडे होते लज्जा अनुभव करते थे। सिनेमा देखना, हल्की मनोवृत्ति (मनोदशा) का परिचायक था किन्तु आज सच्चारित्र के मत्राक्षर सुनने मे, भगवान् का दर्शन करने मे लाज आने लगी है। समय की इस गति को देख कर 'काल सदा प्रगति ही करता है' यह नही माना जा सकता। लोग आज 'चाय'-'काफी' पीने के अभ्यस्त हो गये है। यदि उन्हे दूध का एक 'कप' पीने को कहा जाए तो हँसी उडाएँगे। 'चाय' की 'चाट' जवान पर लग चुकी है न। दूध कैसे पियेगे ? भगवान् के दर्शन, दूध पीने के समान सौभाग्य से मिलते है। जिसके पुण्य

का उदय है वही दर्शन के लिए मन मे स्फूर्ति और निष्ठा पा सकता है । कहते है—

'पशु नारक नर सुर गति मझार
भव धर धर मर्यो अनन्त वार
अब काललब्धिवलते दयाल
तव दर्शन पाय भयो खुशाल,

इस कथन मे पूर्ण सचाई है । 'प्रणन्तु स्तोतु वा कथमकृत-पुण्य प्रभवति ।' अकृतपुण्य भगवान् को प्रणाम निवेदन करने अथवा स्तुति करने मे समर्थ कैसे हो सकता है ?

यह जीवन सीमित है । श्वासोच्छ्वासो का क्रम कव बन्द हो जाए, अवधिज्ञानी ही वता सकते है । अत मास-विष्ठा-शोणित-स्वेद-लाला-क्लिन्न यह शरीर अशक्त हो, जराजीर्ण हो, मृत्यु-शय्या पर चिरनिद्रा निमग्न हो, इससे वहुत पूर्व ही इसे सदुपयोग मे लगा लेना श्रेष्ठ है । जैनधर्म इहलोक और परलोक सुधारने के लिए सरल मार्ग का प्रतिपादन करते हुए कहता है —

'सर्व एव हि जैनाना प्रमाण लौकिको विधि ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूपणम् ।।'

लोक मे प्रचलित जितनी साधुविधियाँ है, जैनो के लिए प्रमाण है । अर्थात् जिस विधि के पालन करने से सम्यक्त्व की हानि नही हो उसके आचरण मे दोष नही । इसका आशय यह है कि सम्यक्त्वपूर्वक व्रतो का परिपालन आभ्यन्तर तप है और यही आत्मशुद्धि के लिए आवश्यक है । इस आभ्यन्तर तपश्चर्या का पालन करते हुए यदि कोई कोट-पैण्ट पहनता है तो और धोती-कुर्ता पहनता है तो भी किसी प्रकार की हानि नही । क्योकि वेप, भूषा, भाषा तो सामाजिक व्यवहार है और इसमे लौकिक

विधि को ही मान्यता देना समाज मे घुलमिलने के लिए आवश्यक है। हाँ ! खान-पान के विषय मे सावधान होना परमावश्यक है। सम्यक्त्व का पालन करने वाले को देव-गुरु-दर्शन, भगवत्प्रतिमा का वन्दन, गुरूपदेश-श्रवण का नियम, छानकर पानी पीना, मद्य-मधु-मास (अण्डा सहित) का त्याग करना और स्वाध्याय रखना आवश्यक है। सप्तव्यसनो मे से कोई एक भी, यदि आधुनिकता के नाम पर, स्वीकार करना पडे तो उस स्थान को छोडना ही श्रेयस्कर है। क्योकि किसी भी व्यसन को स्वीकारना अपने व्रतो मे दोप उत्पन्न करना है। आज उच्च कहलाने वाले वर्ग मे क्लवो मे 'रम', खेलने का प्रचलन है। यह द्यूतकर्म है और इसे व्यसनो मे गिना गया है। अत क्लव मे जाना और मनोरजन करना तो कथचित् क्षम्य है। किन्तु वहाँ मद्य-मास और द्यूतक्रीडा करना त्रिकाल मे भी वाछनीय नही। ऐसा करने से सम्यक्त्व की हानि और व्रतो को दूपण दोनो चरितार्थ होते है। सम्यक्त्व की हानि के अन्य वहुत से मार्ग है। उनका भी अप्रमत्त होकर निरीक्षण करना धार्मिकता की रक्षा के लिए अनिवार्य है। घडी की 'टिक टिक' मे जो अपने हृदय का स्पन्दन मिला कर आगे वढता है, वही काल को जीत सकता है। यदि घडी हमसे आगे निकल जाएगी तो हमे दौड कर उस दूरी को तय करना पडेगा। यदि आफिस पहुँचने का टाइम १० है और हम ९-५५ पर पहुँच जाते है तो हम घडी से ५ मिनट आगे है और जो आगे रहता है, जीतता है। अत' राष्ट्रीय कर्त्तव्यो के साथ सम्यक्त्व का समन्वय करने के लिए हमे कठोर सम्यक् श्रम करने की शपथ लेनी होगी। हाथ की घडी को ५ मिनट ही सही, अपने से पीछे रखना होगा। तभी हमारी श्रद्धा के स्वर सजीव होगे, पूजा के मत्र चरितार्थ होगे और उपासना वर आएगी। मूर्तिपूजा के इस महामहिम अर्थ को जो समझता है, वही सच्चा पूजक है, उसी

को सम्यग्दर्शन होता है, वही चारित्रमार्ग पर सचित्त होकर चलता है। सिद्धालय मे विराजमान भगवान् उसी की स्तुति-कुसुमाजलि को निरवद्य देखते है। पूजा, पूजित और पूजक का तन्मय होना ही वास्तविक पूजा है। तुम को देखूँ और तुम-सा हो जाऊँ यही तन्मयता का रहस्य है।

भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति

तुम से लागी लगन, ले लो अपनी शरण।
पारस प्यारा, मेटो मेटो जी, सकट हमारा ॥ टेक ॥

निशिदिन तुझको जपूँ, पर से नेहा तजूँ।
जीवन सारा, तेरे चरणो मे बीते हमारा ॥ टेक ॥

अश्वसेन के राजदुलारे, वामा देवी के सुत प्राण प्यारे।
सब से नेहा तोडा, जग से मुँह को मोडा, सयम धारा ॥ १ ॥

इन्द्र और धरणेन्द्र भी आये, देवी पद्मावती मगल गाये।
आशा पूरो सदा, दु ख नही पावे कदा, सेवक थारा ॥ २ ॥

जगके दुखकी तो परवाह नही है, स्वर्ग सुख की भी चाह नही है।
मेटो जामन-मरण, होवे ऐसा यतन, पारस प्यारा ॥ ३ ॥

लाखो बार तुम्हे शीश नवाऊँ, जग के नाथ तुम्हे कैसे पाऊँ।
'पकज' व्याकुल भया, दर्शन बिन ये जिया, लागे खारा ॥ ४ ॥

स्वाध्याय का जीवन में महत्त्व

मनुष्य जीवन पशु जीवन से श्रेष्ठ है। क्योकि पशु और मनुष्य के विवेक मे अन्तर है। पशु का विवेक आहार, निद्रा, भय, मैथुन तक सीमित है किन्तु मनुष्य का विवेक इससे ऊपर उठ कर चिन्तन की असीमता को मापता है। उसकी जिज्ञासा से दर्शन-शास्त्रो का जन्म होता है। उसके ज्ञान से स्व-पर की भेदविद्या का प्रादुर्भाव होता है। वह इह और अपरत्र लोको के विषय मे आत्ममन्थन की छाया मे नवीन उपलब्धियो से मानव-समाज के बुद्धि, चिन्तन और चेतना के धरातल का नवीन निर्माण करता है। मै कौन हूँ ? जन्म-मरण क्या है ? ससार से मेरा क्या सम्बन्ध है ? मुझे कहाँ जाना है ? अनन्तानुबन्धी कर्मशृखला का अन्त कहाँ है ? इत्यादि दार्शनिक प्रश्नावली के ऊहापोह मनुष्य मे ही हो सकते है। चिन्तन की इस सहज धारा का उदय सभी मानवो मे होता है किन्तु कुछ लोग ही इस अनाहत ध्वनि को सुन पाते है। सुनने वालो मे भी कुछ प्रतिशत व्यक्ति ही गम्भीरता से विचार कर पाते है और उन विचारको मे भी बहुत थोडे लोग होते है जो अपने चिन्तन की परिणति से चारित्र को कृतार्थ करते है। क्योकि 'बुद्धे. फल ह्यात्महितप्रवृत्ति' आत्महित की ओर प्रवृत्त होना बुद्धि-विमर्श का सर्वोत्तम फल है। यह आत्महित का ज्ञान चिन्तनशील मनीषियो ने ग्रन्थ भण्डारो के रूप मे अपनी उत्तराधिकारिणी मानवपीढी को सौपा है। एक व्यक्ति किसी एक विषय पर जितना लिख नही सकता, सोच भी नही सकता, अपना जीवन अर्पित करके भी जितना दे नही सकता, उतना अपरिमित ज्ञान

हमारे कृपालु पूर्वजो ने, पूर्ववर्ती विचारको ने हमारे लिए छोडा है। जैसे जलकणो से कुम्भ भर जाता है उसी प्रकार अनेक दार्शनिको, चिन्तनशीलो, विचारको एव विद्वानो के द्वारा प्रतिपादित अनुभूत तथ्यो की एक-एक शव्दराशि से, भावसम्पदा से, अर्थविशिष्टता से ग्रन्थरूप मे जन्म लेकर ज्ञान-विज्ञान की अपार विभूतियो ने हमारे आत्मदर्शन के मार्ग को प्रशस्त किया है। उन सारस्वत-महर्पियो के अपार ऋणानुवन्ध से हम उऋण नही हो सकते। जव किसी ग्रन्थ को पढते है, उसे अल्पकाल मे ही पढ लेते है किन्तु उसकी एक-एक शव्दयोजना मे, पक्तिलेखन मे, विषयप्रतिपादन मे और ग्रन्थ परियोजन की प्रतिपादन विधि मे मूल लेखक को, विचारक को कितने दिन, मास, वर्प लगे होगे, कितने काल की अधीतविद्या का निचोड उसने उसमे निहित किया होगा इसे परखने का तुलादण्ड हमारे पास क्या है ? तथापि यदि हमने किसी की रचना के एक शव्द को, आधे सूत्र को और एकपक्ति श्लोक को भी यथावत् समझने का प्रयास करने मे अपनी आत्मिक तन्मयता लगायी है तो निस्सन्देह वह लेखक स्वर्गस्थ होकर भी कृतकृत्य हो उठेगा। लेखक के श्रम को उस पर अनुशीलन करने वाले अनुवाचक ही सफल कर सकते है। जव तक शव्द प्रयुक्त होकर साहित्य मे नही उतरते और जव तक कोई कृति सहृदयो के हृदय का आकर्पण नही कर लेती तव तक शव्द का जन्म (निष्पन्नता) और कर्त्ता का कृतित्व कुमार ही है। श्रेष्ठ कृतियो के अध्ययन से हमे विचारो मे नवीन शक्ति का उन्मेप होता हुआ प्रतीत होता है। नयी दिशा, नये विचार, नवीन शोध और वैदुष्य के अवसर निरन्तर स्वाध्याय करने वालो को प्राप्त होते है।

स्वाध्याय करते रहने से मनुष्य मेधावी होता है। ज्ञान की उपासना का माध्यम स्वाध्याय ही है। स्वाध्यायशील व्यक्ति उन

विशिष्ट रचनाओ के अनुशीलन से अपने व्यक्तित्व मे विशालता को समाविष्ट पाता है। वह रचनाओ के ही नही, अपितु उन-उन रचनाकारो के सम्पर्क मे भी आता है, जिनकी पुस्तके पढता होता है क्योकि व्यक्ति अपने चिन्तन के परिणामो को ही पुस्तक मे निबद्ध करता है। कौन कैसा है ? यह उसके द्वारा निर्मित साहित्य को पढ कर सहज ही जाना जा सकता है। स्वाध्यायशील व्यक्ति की विचारशक्ति और चिन्तनधारा केन्द्रित हो जाती है। मन, जो निरन्तर भटकने का आदी है, स्वाध्याय मे लगा देने से स्थिर होने लगता है, और मन की स्थिरता आत्मोपलब्धि मे परम सहायक होती है। एतावता स्वाध्याय के सुदूर परिणाम आत्मा को उत्कर्ष प्रदान करते है।

पुस्तकालयो, व्यक्तिगत सग्रहालयो, ग्रन्थभाण्डागारो को दीमक लग रही है। नवयुवको का जीवन स्वाध्यायपराङ्मुख हो चला है। जीवन रातदिन यन्त्र के समान उपार्जन की चक्की मे पिस रहा है। स्वाध्याय की परिस्थितियाँ दुर्लभ हो गई है और वदलती परिस्थितियो के साथ मनुष्य स्वय भी स्वाध्याय के प्रति विरक्त हो चला है। उसका कार्यालयो से वचा हुआ समय सिनेमा, रेडियो, ताश के पत्तो और अन्य सस्ते मनोरजनो मे चला जाता है। स्वाध्याय शब्द की गरिमा से अनजाने लोग विचारको की रत्नसम्पदासमान ग्रन्थमाला से कोई लाभ नही उठा पाते। स्वाध्यायशील न रहने से मन मे उदार सद्गुणो की पूँजी जमा नही होती। शरीर को भोजनरूपी खुराक (अन्नमय आहार) तो मिल जाता है किन्तु मस्तिष्क भूखा रहता है। मानव केवल शरीर नही है वह अपने मस्तिष्क की शक्ति से ही महान् है। अस्वाध्यायी इस महिमामय महत्त्व के अवसर से वचित ही रह जाता है। स्वाध्याय न करने के दुष्परिणाम से ही कुछ लोग जो आयु मे प्रौढ होते है, विचारो मे बालक देखे जाते है। उनके

विचार कच्ची उम्रवालो के समान अपक्व होते है और इस अपरिपक्वता की छाया उनके सभी जीवन-व्यवहारो मे दिखायी देती है। जो मनुष्य चलता रहता है वह भूखा नही रहता और जो पढता रहता है उसके पास पाप नही आते। स्वाध्याय के माध्यम से व्यक्ति परमात्मा और परलोक से अनायास सम्पर्क स्थापित कर लेता है। स्वाध्याय आभ्यन्तर चक्षुओ के लिए अजनशलाका है। दिव्य दृष्टि का वरदान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया जा सकता है। जीवन मे उन्नति प्राप्त करने वाले नियमित स्वाध्यायी थे। एक बार एक महाशय को लोकमान्य तिलक की सेवा मे बैठना पडा। वह प्रात काल से ही ग्रन्थो के विविध सन्दर्भ-स्वाध्याय मे लगे थे और इस प्रकार दोपहर हो गया। उठकर उन्होने स्नान किया और भोजन की थाली पर बैठ गये। आगन्तुक ने पूछा - क्या आप सन्ध्या नही करते ? तिलक महाशय ने उत्तर दिया कि प्रात काल से अब तक मै 'सन्ध्या' ही तो कर रहा था। वास्तव मे स्वाध्याय से उपार्जित ज्ञान को यदि जीवन मे नही उतारा गया तो निरुद्देश्य 'जलताडनक्रिया' से क्या लाभ ? आँखो की ज्योति को मन्द किया, समय खोया और जीवन मे पाया कुछ नही तो 'स्वाध्याय' का परिणाम क्या निकाला ? स्वाध्याय 'स्व' के अध्ययन के लिए है। ससार की नश्वर आकु-लता से ऊपर उठने के लिये है। स्वाध्याय की थाली मे परोसा हुआ अमृतमय समय जीवन को अमर बनाने मे सहायक है। स्वाध्याय से आत्मिक तेज जागृत होता है। पुण्य की ओर प्रवृत्ति होती है। मोहनीय कर्म का क्षय करने की ओर विचार दौडते है। पूर्वजो ने जिस वास्तविक सम्पत्ति का उत्तराधिकार हमे सौपा है उस 'वसीयतनामा' को पढना वैसे भी हमारा नैतिक कर्त्तव्य है।

श्रुतस्कन्धे धीमान् रमयतु मनोमर्कटममुम्' यह मन वानर के

समान चञ्चल है, इसे जो शास्त्र-स्वाध्याय मे एकतान कर देता है वही धन्य है। स्वाध्याय से हेय और उपादेय का ज्ञान होता है। यदि वह न हो तो 'व्यर्थं श्रम श्रुतौ' शास्त्राध्ययन से होने वाला श्रम व्यर्थ है। स्वाध्याय से ज्ञानचक्षुओ का उन्मीलन होता है और मनुष्य मृत्यु के दुर्ग को लाँघने का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। यदि स्वाध्याय करने पर भी मन मे विचारमूढता है, ज्ञान पर आवरण है, तो कहना पडेगा कि उसने स्वाध्याय पर बैठकर भी वास्तव मे स्वाध्याय नही किया। 'पाणौ कृतेन दीपेन कि कूपे पतता फलम्' दीपक हाथ मे लेकर चले और फिर भी कुएँ मे गिर पडे तो दीपग्रहण का श्रम व्यर्थ नही तो क्या है? शास्त्रो का स्वाध्याय अमोघ दीपक है। यह सूर्य प्रभा से भी बढकर है। जब सूर्य अस्त हो जाता है तब मनुष्य दीपक से देखता है और जब दीपक भी निर्वाण हो जाता है तब सर्वत्र अन्धकार छा जाता है किन्तु उस समय अधीतविद्य का स्वाध्याय ही आत्मभूमि में आलोक आविर्भाव करता है। यह स्वाध्याय से उत्पन्न आलोक तिमिरग्रस्त नही होता। अखण्ड ज्योतिर्मय यह ज्ञान स्वाध्याय-रसिको के समीप 'नन्दादीप' बनकर उपस्थित रहता है। स्वाध्याय की उपासना निरन्तर करते रहना जीवन को नित्य नियमित रूप से माँजने के समान है। एक अच्छे स्वाध्यायी का कहना है कि यदि मैं एक दिन नही पढता हूँ तो मुझे अपने आपमे एक विशेष प्रकार की रिक्तता का अनुभव होता है और यदि दो दिन स्वाध्याय नही करता हूँ तो पास-पडोस के लोग जान जाते है और एक सप्ताह न पढने पर सारा ससार जान लेता है। वास्तव मे यह अत्यन्त सत्य है क्योकि जिस प्रकार उदर को अन्न देना दैनिक आवश्यकता है उसी प्रकार मस्तिष्क को खुराक देना भी अनिवार्य है। शरीर और बुद्धि का समन्वय बना रहे इसके लिए दोनो प्रकार का आहार आवश्यक है।

'अज्झयणमेव झाण' अध्ययन ही ध्यान है, सामायिक है, ऐसा आचार्य कुन्दकुन्द का मत है। ससार मे जितने उच्च कोटि के लेखक, वक्ता और विचारक हुए है उनके सिरहाने पुस्तको से वने है। विश्व के ज्ञान-विज्ञानरूपी तूलभार को उन्होने अश्रान्त भाव से आँखो की तकली पर अटेरा है और उसके गुणमय गुच्छो से हृदय मन्दिर को कोषागार का रूप दिया है। लेखन की अस्खलित सामर्थ्य को प्राप्त करने वाले रातदिन श्रेष्ठ साहित्य के स्वाध्याय मे तन्मय रहते है। वडे २ अन्वेपक और दार्शनिक रात दिन भूख-प्यास को भूलकर स्वाध्याय मे लगे रहते है। स्वामी रामतीर्थ जब जापान गये तो व्याख्यान-सभा मे उपस्थित होने पर उन्हे पराजित करने की भावना से मचसयोजक ने बोर्ड पर शून्य (०) लिख दिया और भाषण के प्रथम क्षण स्वामी राम को पता चला कि उन्हे शून्य पर भाषण करना है। उन्होने जापानियो की दृष्टि मे शून्य प्रतीत होने वाले उस अकिंचन विषय पर इतना विद्वतापूर्ण भाषण दिया कि श्रोता उनके वैदुष्य पर धन्य धन्य और वाह वाह कह उठे। यह उनके विशाल भारतीय वाङ्मय के स्वाध्याय का ही फल था। काव्यमीमासाकार राजशेखर ने लिखा है कि जो वहुज्ञ होता है वही व्युत्पत्तिमान होता है। जिसको स्वाध्याय का व्यसन है वही वहुज्ञ हो सकता है। गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति के विपय मे कहा है कि जैसे कामी पुरुष को नारी प्रिय लगती है और लोभी को पैसा प्रिय लगता है उसी प्रकार जिसे भक्ति प्रिय लगे वह भगवान् को पा सकता है। ठीक यही वात स्वाध्याय के लिए लागू होती है। जो व्यक्ति अध्ययन के लिए अपने को अन्य सभी ओर से एकाग्र कर लेता है वही स्वाध्याय देवता के साक्षात्कार का लाभ उठाता है। पढने वालो ने घर पर लैम्प के अभाव मे सडको पर लगे 'बल्वो' की रोशनी मे ज्ञान की ज्योति को वढाया है। जयपुर के

प्रसिद्ध विद्वान् प० हरिनारायणजी पुरोहित ने बाजार मे किसी पठनीय पुस्तक को बिकते हुए देखा। उस समय उनके पास पैसे नही थे अत उन्होने अपना कुर्ता खोलकर उस विक्रेता के पास गिरवी रख दिया और पुस्तक घर ले गये। इसीलिए उनका 'विद्याभूषण' नाम सार्थक था। भारत के इतिहास मे ऐसे अनेक स्वाध्यायपरायण व्यक्ति हो चुके है। विदेशो मे अधिकाश व्यक्तियो के घरो मे 'पुस्तकालय' है। वे अपनी आय का एक निश्चित अश पुस्तक खरीदने मे व्यय करते है। धर्मग्रन्थो का दैनिक पारायण करने वाले स्वाध्यायी आज भी भारत मे वर्त्तमान हैं। वे धार्मिक स्वाध्याय किये बिना अन्न, जल ग्रहण नही करते। 'स्वाध्यायान् मा प्रमद' स्वाध्याय के विषय मे प्रमाद मत करो। स्वाध्यायशील अपने गन्तव्य मार्ग को स्वय ढूँढ निकालते है। अज्ञान के गज पर स्वाध्याय का अकुश है। पवित्रता के पत्तन मे प्रवेश करने के लिए स्वाध्याय तोरणद्वार है। स्वाध्याय न करने वाले अपनी योग्यता की डीग हाँकते है। किन्तु स्वाध्यायशील उसे पवित्र गोपनीय निधि मानकर आत्मोत्थान के लिए उसका उपयोग करते है। उनकी मौन आकृति पर स्वाध्याय के अक्षय वरदान मुसकाते रहते है और जब वे बोलते है तो साक्षात् वाग्देवी उनके मुखमच पर नर्तकी के समान अवतीर्ण होती है। स्वाध्याय के अक्षरो का प्रतिबिम्ब उनकी आँखो पर लिखा रहता है और ज्ञान की निर्मलधारा से स्नात उनकी वाङ्माधुरी मे सरस्वती के प्रवाह पवित्र होने के लिए नित्याभिलाषी होते है। एक महान् तत्वद्रष्टा, सफल राजनेता और उत्तम सन्त स्वाध्याय-विद्यालय का स्नातक ही हो सकता है। स्वाध्याय एकान्त का सखा है। सभास्थानो मे सहायक है। विद्वद्गोष्ठियो मे उच्च आसन प्रदान करने वाला है। जैसे पैसा-पैसा डालने पर भी कोषवृद्धि होती है, उसी प्रकार बिन्दु-बिन्दु विचार सग्रह करने

से पाण्डित्य की प्राप्ति होती है। शब्दो के अर्थ कोषो मे नही, साहित्य की प्रयोगशालाओ मे लिखे है। अनवरत स्वाध्याय करने वाला शब्दो के सर्वतोमुखी अर्थो का ज्ञान प्राप्त करता है। स्वाध्याय करने वाले की आँखो मे समुद्रो की गहराई, पर्वत-शिखरो की ऊँचाई और आकाश की अनन्तता समायी होती है। वह जब चाहता है, विना तैरे, बिना आरोहण-अवगाहन किये, उनकी सीमाओ को बता सकता है। स्वाध्याय का तप साधना के रूप मे सेवन करने वाला उससे अभीष्ट लाभो को प्राप्त करता है।

१

अब हम अमर भये न मरेंगे।
या कारन मिथ्यात दियो तज क्यो कर देह धरेंगे ॥ टेक ॥

राग-द्वेष जगबन्ध करत है, इन का नाश करेंगे।
मरचो अनन्त काल ते प्राणी सो हम काल हरेंगे ॥ १ ॥

देह विनाशी हम अविनाशी अपनी गति पकरेंगे।
नाशी जासी, हम थिरवासी चोखे हो निखरेंगे ॥ २ ॥

मरचो अनन्त वार विन समुझे अब दु खसुख विसरेंगे।
'आनन्दघन' 'जिन' ये दो अक्षर नहि सुमरे सो मरेंगे ॥ ३ ॥

---

१ महात्मा गाधी की भजन-गुटिका से उद्धृत।